मैं अपनी आजादी चाहता हूँ : मुझे रास्ते का नक्शा मत बताओ!

रोहित धनकर



अक्सर हमें सवाल के वेष में एक आरोप सुनाई पड़ता है : राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की क्या जरूरत है? आगे की बातचीत में यह आरोप कैसा रूप धारण करता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि आरोप लगाने वाला अपने आपको कितना तार्किक, सरोकारी या आमूलचूल परिवर्तनकारी दिखलाना चाहता है। उनमें से कुछ इस तरह से हो सकते हैं : हमारे देश का सांस्कृतिक व प्राकृतिक परिवेश इतना विशाल और विविधतापूर्ण है कि शिक्षा की कोई भी एकल योजना कभी भी सभी के लिए मुनासिब हो इसकी उम्मीद ही नहीं की जा सकती। इसके लिए एक मूल सिद्धान्त का अक्सर हवाला दिया जाता है कि, 'एक ही नाप का जूता हरेक के पैर में कैसे पहनाया जा सकता है?' या फिर, यह कहा जा सकता है कि पाठ्यचर्या अध्यापक तथा शिक्षार्थी दोनों को ही जंजीरों में जकड़ देती है। उनकी रुचियों को नजरअन्दाज कर दिया जाता है, उनकी सृजनात्मकता का गला घोंट दिया जाता है और उनकी उत्सुकता का कत्ल कर दिया जाता है; बच्चों को आजाद छोड़ दिया जाना चाहिए। या फिर, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या इतनी आदर्शवादी है कि शिक्षा के व्यावहारिक कामकाज के लिहाज से वह किसी काम की नहीं है, इसलिए लोग उसे नजरअंदाज कर देते हैं।

ये सभी व्यक्ति मुझे ऐसे लगते हैं जैसे कोई नाविक यह घोषणा कर रहा हो कि 'मुझे मेरी आजादी चाहिए, मेहरबानी करके रास्ते का नक्शा मेरे मत्थे ना मढ़ें।' बेशक नाविक अपनी लम्बी समुद्री यात्रा में बगैर नक्शे के भटक जाएगा। इसी तरह ये नवाचारी लोग भी शिक्षा के इस विकट समुद्र में भटक जाएँगे। इन सभी आरोपों का ठीक से जवाब देने के लिए आइए हम राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के उपयोग व दुरुपयोग पर एक त्वरित नजर डाल लेते हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली

1976 से पहले शिक्षा राज्य का विषय होती थी, इसे 42वें संविधान संशोधन के जरिए समवर्ती सूची में शामिल किया गया। जिसका तकनीकी तौर पर यह मतलब होता है कि उससे पहले बनाई गई पाठ्यचर्या की कोई भी रूपरेखा 'राष्ट्रीय' नहीं हो सकती थी। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 कहती है कि '1986 में पहली बार पूरे देश के लिए एक समान राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनी'(राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005, पृ.4)। हमारे पास 1968 में संसद द्वारा स्वीकार की गई राष्ट्रीय शिक्षा नीति थी। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में आया वाक्यांश 'पहली बार' इस बात की तरफ इशारा करता है कि हालाँकि हमारे पास राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 थी, लेकिन संसद ने उसका अनुमोदन तब किया था जब शिक्षा राज्य का विषय हुआ करती थी, जो कि 'राज्य सरकारों को अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले विद्यालयी शिक्षा से जुड़े सभी मामलों के सम्बन्ध में निर्णय लेने की अनुमति देती थी, इन मामलों में पाठ्यचर्या भी शामिल थी।' (राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005, पृ.3) और 'केन्द्र राज्यों को नीतिगत मसलों पर सिर्फ मार्गदर्शन कर सकता है।'(वही)

हालाँकि, राष्ट्रीय शिक्षा का आदर्श इससे काफी पुराना है। पिछली सदी के शुरुआती दो दशकों में इस मुद्दे पर देश व्यापी बहस हुई थी, जिसमें बहुत से व्यक्तियों ने औपनिवेशिक शिक्षा की वजह से भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना पर पड़ने वाले बुरे असरों को दर्ज किया था और उसकी जगह पर शिक्षा की एक राष्ट्रीय प्रणाली को लाने की ख्वाहिश जाहिर की थी। अरविन्द ऐसी शिक्षा चाहते थे जिसकी जड़ें भारतीय हों और जो इंसानी दिमाग की सांख्य व योग आधारित समझ पर आधारित हो।[1] लाला हरदयाल ने जोशीले राष्ट्रवाद के साथ औपनिवेशिक शिक्षा की आलोचना की और भारतीय संस्कृति तथा राष्ट्र के लिए प्यार पर आधारित शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली की वकालत की।[2] टैगोर ने तर्क दिया कि किसी भी देश के लिए वही विश्वविद्यालय सही रहेगा जो वहीं के राष्ट्रीय सांस्कृतिक संसाधनों की मदद से बनाया जाए।[3] जो तर्क उन्होंने विश्वविद्यालय के लिए दिया था वही तर्क उनके लिए विद्यालयी शिक्षा के लिए भी मायने रखता था, जैसा कि हम देखते हैं कि वे अपने विद्यालय के लिए प्राचीन भारत के तपोवन के आदर्श से प्रेरणा हासिल करते हैं।

लाला लाजपत राय[4] शिक्षा के राष्ट्रीयकरण की कई कोशिशों का व्यवस्थित विश्लेषण करते हैं और उनमें से कुछ को साम्प्रदायिक कहकर खारिज कर देते हैं। शब्दों की किसी भी किस्म की बाजीगरी का इस्तेमाल किए बगैर वे कहते हैं कि, ''दयानन्द एंग्लो वेदिक कॉलेज, अलीगढ़ का द मोहम्मडन कॉलेज, लाहौर का आर्य कॉलेज, बनारस का हिन्दू कॉलेज, सभी अपने–अपने संस्थापकों के 'राष्ट्रीय' आदर्शों को साकार करते थे या उनकी नुमाइंदगी करते थे लेकिन उसी के साथ–साथ वे संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक थे, जो उस समय के राष्ट्रीय आदर्शों की सीमा थी।'' उन्होंने दलील दी कि इनमें से कोई भी राष्ट्रीय शिक्षा का आदर्श नहीं हो सकता। ''मेरे विचार से बंगाल की राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् द्वारा की गई कोशिश, जो कि अपने किस्म की अकेली थी, सही मायने में राष्ट्रीय थी। राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् द्वारा लागू की गई योजना अपर इण्डिया आन्दोलन के **साम्प्रदायिक रंग से मुक्त** थी।'' (पृ. 24, शब्दों पर अतिरिक्त बल हमारी ओर से दिया गया है।) यह राष्ट्रीय शिक्षा के सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को सामने रखता है व उसके लिए दलील देता है कि: उसे गैर–साम्प्रदायिक होना चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा के इतिहास की इस बहुत ही छोटी–सी यात्रा का मकसद उन थोड़े–से सिद्धान्तों को उजागर करना है जिन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्श और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय पाठ्यचर्या को दिशा देने में अपनी भूमिका अदा की। ऐसा ही एक और सिद्धान्त बहुत से भारतीयों के दिमाग में सबके लिए साम्प्रदायिक भेदभाव से मुक्त समान शिक्षा का था। एक दूसरा यह था, कि शिक्षा का काम राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करना होना चाहिए। तीसरा आदर्श राष्ट्रीय सांस्कृतिक, राजनैतिक व आर्थिक जीवन में योगदान करना था और सबसे आखिरी किन्तु महत्त्वपूर्ण आदर्श था– एक स्वतंत्र व्यक्ति का विकास करना।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्याओं के बनने की चर्चा की ओर लौटते हुए हमें इस बात को जरूर याद रखना चाहिए कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1968 (शायद 1950 में बने राधाकृष्णन आयोग से ही) से सभी दस्तावेज राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली पर जोर देते रहे हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1968 के बाद दस्तावेजों में राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के कुछ प्रमुख पहलुओं ने साफ–सुथरा आकार ग्रहण करना शुरू किया। उन्हें समझने की कोशिश करना सार्थक ही रहेगा।

शिक्षा के प्रयोजन तथा लक्ष्य

इस पहलू को अच्छी तरह से समझने के लिए हमें कई बातों का ध्यान रखना चाहिए : पहला, इस बात से हमें हैरानी नहीं होनी चाहिए कि प्रयोजन व लक्ष्यों का मसला शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली की बहस में शायद सबसे पुराना है और यह बीसवीं सदी के शुरुआती सालों में प्रमुख जगह रखता था, जैसा कि हमने चर्चा में देखा। दूसरा, हमें 'शिक्षा के सामाजिक प्रयोजनों' तथा 'शिक्षा के लक्ष्यों' में अवधारणात्मक फर्क कर लेना चाहिए।

मैं इस लेख में 'सामाजिक प्रयोजनों' का जिक्र सिर्फ 'प्रयोजन' कहकर करूँगा। शिक्षा के प्रयोजन का ताल्लुक उस किस्म के समाज से होता है, जैसा समाज हम शिक्षा के जरिए बनाना चाहते हैं और जिस तरह के सामाजिक बदलाव हम इसके जरिए करना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, जब कोठारी आयोग चाहता है कि शिक्षा 'सामाजिक बदलाव का औजार' बने, या राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1968 यह चाहती है कि शिक्षा 'राष्ट्रीय विकास को बढ़ावा देने में अपनी आवश्यक भूमिका निभाए, सामान्य नागरिकता व संस्कृति का अहसास सृजित करे और राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ावा दे' तब वे शिक्षा के प्रयोजनों की बात कर रहे होते हैं। वे इस बात से ताल्लुक रखते हैं कि हम किस किस्म का समाज चाहते हैं और इसके साथ ही यह भी चाहते हैं कि उस समाज को साकार करने की कोशिशों में शिक्षा अपना योगदान करे।

दूसरी तरफ शिक्षा के लक्ष्य सीधे–सीधे इस बात की सिफारिश करते हैं कि हम समाज के वैयक्तिक सदस्यों में किस किस्म की समझ, क्षमताओं, मूल्यों, कौशलों आदि का विकास करना चाहते हैं। उसी दस्तावेज (राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1968) से उदाहरण लेते हैं। जब वह कहता है कि, 'शिक्षा प्रणाली से ऐसे चरित्रवान तथा क्षमताओं वाले युवा स्त्री–पुरुष निकलने चाहिए जो कि राष्ट्र की सेवा व विकास के लिए प्रतिबद्ध हों।', तब वह शिक्षा के लक्ष्यों की बात कर रहा होता है। यहाँ पर जिन गुणों का जिक्र किया गया है उनका व्यक्तियों में विकास करना शिक्षा का लक्ष्य है जो कि आगे जाकर शिक्षा के सामाजिक प्रयोजनों को पूरा करने में मदद करेगा। बेशक, ये दोनों एक–दूसरे पर निर्भर हैं। इसके

साथ ही इनका बहुत–सा हिस्सा एक–दूसरे में समाया रहता है, इसलिए इन पर चलने वाली बहस लगातार दोनों में फर्क किए बगैर एक से दूसरे में आती–जाती रहती है।

शिक्षा पर राष्ट्रवादी बहस की शुरुआत से ही कुछ प्रयोजन शिक्षा में लगातार बने रहे हैं : एक राजनैतिक तौर पर मजबूत, समरसतापूर्ण, आर्थिक तौर पर समृद्ध और लोकतांत्रिक देश बनाना। छोटे–मोटे बदलावों के साथ ये प्रयोजन शुरू से लेकर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 तक में देखे जा सकते हैं। जैसे ही हम आजादी के नजदीक पहुँचते हैं, लोकतंत्र और भी ज्यादा अहम राष्ट्रीय लक्ष्य और इसी वजह से शैक्षिक प्रयोजन बन जाता है।

इन प्रयोजनों से व्यक्तियों के गुणों के तौर पर शैक्षिक लक्ष्य निकाले जाते हैं : तर्क कुछ इस तरह से होता है, 'अगर हम इस किस्म का समाज व देश चाहते हैं तो उस समाज को गढ़ने व बरकरार रखने के लिए उसके नागरिकों में किस तरह की क्षमताएँ चाहिए?' परिणामस्वरूप, शैक्षिक लक्ष्यों में व्यक्तियों के कुछ गुण होते हैं जो पिछली एक शताब्दी से स्थाई बने हुए हैं। इसके साथ ही स्वतंत्र ढंग से व साफ–सुथरे तरीके से सोचने की क्षमताएँ, भारतीय संस्कृति में जड़ें जमाए रखना, न्याय व बराबरी के लिए प्रतिबद्धता, रवैये में 'सेकुलर' होना व आर्थिक उत्पादन में भागीदारी करने की क्षमता भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं।

दरअसल, राष्ट्रीय शिक्षा नीति की जरूरत को सिर्फ इन प्रयोजनों व शिक्षा के लक्ष्यों की बुनियाद पर ही न्यायसंगत ठहराया जा सकता है। इसलिए, राष्ट्रीय शिक्षा नीति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू शिक्षा के प्रयोजन व लक्ष्य होते हैं, जिनके बारे में माना जाता है कि वे पूरे देश में शिक्षा का मार्गदर्शन करेंगे।

ऐसा इसलिए होता है क्योंकि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की जरूरत पर (मेरे विचार से गुमराह करने के लिए), लगाए जाने वाले आरोप अपने फेंफड़ों की पूरी ताकत से शिक्षा के प्रयोजनों व लक्ष्यों की आलोचना करते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अक्सर यह घोषणा की जाती है कि शिक्षा के लक्ष्य पूरी तरह से फालतू के और शिक्षा का मार्गदर्शन करने के लिहाज से नाकारा हैं और शिक्षा के प्रयोजन अभिभावकों को अपनी आर्थिक व सामाजिक उम्मीदों के साये तले तय करने चाहिए। मैं इस छोटे से लेख में इन दावों को विस्तार से खारिज करके नहीं दिखा सकता। फिर भी आपके विचारों को छेड़ने के लिए मैं शिक्षा के दो दार्शनिकों के उद्धरण दूँगा। ये उद्धरण जो लोग शिक्षा के लक्ष्यों को फालतू मानते हैं उनके समक्ष विचार के लिए रख रहा हूँ, इन्हें आधिकारिक अन्तिम सत्य की तरह पेश करने का कोई इरादा नहीं है।

ड्यूई ने अपनी प्रसिद्ध किताब 'लोकतंत्र एवं शिक्षा' में कहा है, "कुल मिलाकर नतीजा यह निकलता है कि किसी लक्ष्य के साथ कर्म करना ही समझदारी पूर्वक कर्म करना है। किसी कर्म के आखिरी अंजाम का अनुमान लगा पाने की बुनियाद पर ही यह तय होता है कि किसका अवलोकन करना है, किसका चुनाव करना है और किन चीजों को क्रम से जमाना है तथा हमारी कौन–सी क्षमताएँ उसमें काम आएँगी। यह सब करने का मतलब है हमारे पास दिमाग का होना... अगर वह धुँधली महत्त्वाकांक्षा की बजाए सच में काम करने वाला कोई दिमाग है– तो इसका मतलब है हमारे पास संसाधनों और बाधाओं पर ध्यान देने वाली एक योजना होनी चाहिए। दिमाग होने का मतलब है वर्तमान परिस्थितियों को भविष्य पर होने वाले प्रभाव के सन्दर्भ में देखना और भविष्य के परिणामों को वर्तमान परिस्थितियों के सम्बन्ध में देखने की क्षमता होना है। **और कोई लक्ष्य या उद्देश्य होने का मतलब भी यही गुण होना होता है। एक व्यक्ति मूर्ख, अज्ञानी, बेवकूफ या नासमझ उसी हद तक हो सकता है जिस हद तक उसे अपनी किसी गतिविधि के बारे में यह न पता हो कि वह गतिविधि किस बारे में है।** यानी वह अपने कर्मों के सम्भावित नतीजों से अनजान हो।"[5] (पृ. 120–21, यहाँ कुछ शब्दों पर अतिरिक्त बल हमारी ओर से दिया गया है।)

शिक्षा के लक्ष्यों पर चर्चा करते वक्त प्रोफेसर क्रिस्टोफर विंच कहते हैं, "जब शिक्षा के प्रमुख लक्ष्यों पर साफ तौर पर सहमति नहीं बनती, तब एक खतरा यह होता है कि सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के कामकाज को तय करने में छुपे हुए या प्रच्छन्न लक्ष्य सबसे ज्यादा असरकारी बन सकते हैं। तब बहुत मुमकिन है कि किसी तंत्र के अन्दर व बाहर से कामकाज को संचालित करने वाले सबसे ज्यादा असरदार समूह इन लक्ष्यों को तय कर दें। **क्योंकि लक्ष्यों के बारे में सार्वजनिक बहस बहुत कम होगी या नहीं होगी, बहुत मुमकिन है कि कुछ के हितों पर पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाए और यहाँ तक कि उन्हें नुकसान भी पहुँचाया जा सकता है।** अगर किसी

समाज के पास अपनी शिक्षा प्रणाली के लिए स्पष्ट व सबकी सहमति हासिल किए हुए लक्ष्य न हों तो एक खतरा यह होगा कि न सिर्फ उनके पास ऐसा स्वस्थ तंत्र नहीं होगा जिसकी सभी इज्जत करते हों और जो अच्छी तरह से काम करता हो, बल्कि उस समाज के उन समूहों में व्यापक व नुकसानदायक असंतोष होगा जिनके हितों की अच्छी तरह से पूर्ति नहीं हो पा रही होगी।''[6] (पृ. 33, यहाँ कुछ शब्दों पर अतिरिक्त बल हमारी ओर से दिया गया है।)

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का ढाँचा

ऐसा लगता है कि पूरे देश में शिक्षा के एक साझा ढाँचे के बारे में सबसे पहली बार सुझाव कोठारी आयोग की रपट में दिए गए। उसके आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 सिफारिश करती है कि, 'देश के सभी हिस्सों में एक व्यापक व समान शैक्षिक ढाँचे का होना फायदेमन्द रहेगा। इसका अन्तिम उद्देश्य 10+2+3 के पैटर्न को अपनाना होना चाहिए, उच्च माध्यमिक स्तर के दो साल स्थानीय हालातों के मुताबिक विद्यालयों, महाविद्यालयों या दोनों में रखे जा सकते हैं।'[7] (पृ. 44)

इन सिफारिशों में एकदम साफ है कि नीति–दस्तावेज में शिक्षा के बारे में सुझाव दिए गए हैं। ऐसा उस समय शिक्षा के राज्यों का विषय होने की वजह से है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 ढाँचों के बारे में अनिश्चित नहीं है बल्कि उससे भी आगे यह चाहती है कि पूरे देश में प्रारम्भिक शिक्षा का एक समान बँटवारा जैसे : 5+3 हो और विद्यालयी शिक्षा में 10+2 की स्वीकृति हो। (पृ. 5)

सभी राष्ट्रीय पाठ्यचर्याओं (दस साला स्कूल की पाठ्यचर्या, 1975 सहित) में पूरे देश में राष्ट्रीय शिक्षा नीति के एक समान ढाँचे पर जोर दिया गया है। इससे भी आगे, अक्सर ये सभी दस्तावेज इसे खासतौर पर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य के तौर पर उद्धृत करते हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली और भाषा नीति

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू भाषाओं के विकास पर जोर देना है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1968 ने भारतीय भाषाओं के विकास की अहमियत को पहचाना और इस नतीजे पर पहुँची कि इसके बगैर, ''जनता की रचनात्मक ऊर्जा अभिव्यक्त नहीं हो पाएगी, शिक्षा के मानदण्ड बेहतर नहीं हो पाएँगे, जनता में ज्ञान का प्रसार नहीं हो पाएगा और शिक्षित वर्ग तथा जनसमुदाय के बीच की खाई बरकरार रहेगी, अगर और न बढ़े तब भी।'' (पृ. 39) उसमें सुझाए गए तीन–भाषा सूत्र को क्षेत्रीय भाषाओं के विकास, एक सम्पर्क भाषा के विकास के लक्ष्य को हासिल करने व अँग्रेजी भाषा के ज्ञान के बीच एक संतुलन बनाने के तरीके के तौर पर देखा जा सकता है।

शिक्षा में यही भाषा नीति स्वीकार की गई है और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 के बाद आने वाले हरेक नीतिगत दस्तावेज और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या में इसे दोहराया जाता है, भले ही सरकारें और विद्यालय अक्सर इसकी कोई परवाह नहीं करते या इसकी मूल भावना को कुचलकर इसका पालन करने का सिर्फ ढोंग करते हैं।

अध्ययन की एक समान योजना

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली विद्यालय स्तर पर अध्ययन की एक समान योजना की परिकल्पना भी करती है। प्रारम्भिक व माध्यमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या एक रूपरेखा–1988 (संक्षेप में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या, 1988) प्री–प्राइमरी से माध्यमिक शिक्षा के लिए एक समान योजना निर्धारित करती है। प्राथमिक स्तर पर इसमें एक भाषा (मातृ भाषा/क्षेत्रीय भाषा), गणित, पर्यावरण अध्ययन, कार्यानुभव, कला शिक्षण और स्वास्थ्य व शारीरिक शिक्षण प्रस्तावित किया गया है। उच्च प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर बच्चों को तीन भाषाओं का अध्ययन करना है और पर्यावरण अध्ययन की जगह पर विज्ञान व सामाजिक अध्ययन लिया गया है; बाकी सभी विषय प्राथमिक स्तर वाले ही लिए गए हैं। हालाँकि यह एक समान योजना राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2000 तथा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 में एकदम इस भाषा में तो व्यक्त नहीं की गई है, फिर भी पूरे देश में अभी यही प्रचलित है। अध्ययन की एक समान योजना का यह मतलब कतई नहीं है कि हरेक पाठ्यचर्यात्मक क्षेत्र का पाठ्यक्रम पूरे देश में एक–सा होगा। पाठ्यक्रम को स्थानीय सन्दर्भों के साथ जोड़ने के लिए काफी हद तक लचीलेपन की परिकल्पना की गई है। फिर भी, एक जैसे मानदण्डों को ध्यान में रखते हुए विषयों के ढाँचों में तर्कसंगत समानताएँ होनी चाहिए। अध्ययन की एक समान योजना पूरे देश में उपलब्धि के एक जैसे मानदण्ड विकसित किए जाने की सम्भावनाओं को मुमकिन बनाती है।

एक समान केन्द्रीय (यानी कोर) पाठ्यचर्या

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 कहती है कि, ''शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली एक राष्ट्रीय पाठ्यचर्यात्मक ढाँचे पर आधारित होगी जिसमें मुख्य समान चीजों के साथ–साथ कुछ दूसरे घटक भी शामिल होंगे जो लचीले होंगे। इस एक समान केन्द्रीय पाठ्यचर्या में भारत की आजादी का इतिहास, संवैधानिक कर्तव्य और राष्ट्रीय पहचान का पोषण करने वाली अन्य जरूरी विषयवस्तु भी शामिल होंगी। ये तत्व सभी विषय क्षेत्रों में शामिल होंगे और भारत की सामान्य सांस्कृतिक विरासत, समतावाद, लैंगिक बराबरी, पर्यावरण का संरक्षण, सामाजिक अड़चनों को दूर करना, छोटे परिवार के मानक का पालन और वैज्ञानिक नजरिए की शिक्षा जैसे मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए डिजाइन किए जाएँगे। सभी शैक्षिक कार्यक्रमों में सेकुलर मूल्यों का कड़ाई के साथ पालन किया जाएगा।'' (पृ. 5)

यह इस बात को बताता है कि सभी भारतीय बच्चों को क्या जानना चाहिए और इसके साथ ही पाठ्यचर्या को स्थानीय सन्दर्भों के अनुकूल बनाने के भरपूर मौके भी देता है।

अब तक दिए गए तर्क को सारांश में इस तरह से रखा जा सकता है :

- आधुनिक भारत के निर्माता इस नतीजे पर पहुँचे थे कि इसे एक ऐसा लोकतांत्रिक देश होना चाहिए, जिसमें सभी को बराबर अधिकार हासिल हों। ये नतीजे आजादी के आन्दोलन की पीड़ादायी प्रक्रिया से उपजे थे।
- लेकिन भारत विविधताओं का देश था और है; सबके लिए बराबरी के विचार और देश के विचार को सभी के द्वारा एक ही तरह से न तो समझा गया और न ही उसे बराबर प्रतिबद्धता के साथ कबूल ही किया गया।
- इसके साथ ही, सभी के लिए सम्मानजनक जीवन सम्भव बनाने के लिए देश का आर्थिक विकास किए जाने की फौरी जरूरत थी (और अभी भी है)।
- इसलिए, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लोगों की क्षमताओं का विकास तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ राष्ट्रीय चेतना का विकास जरूरी माना गया। हमारे पास उन वांछित क्षमताओं, मूल्यों, ज्ञान तथा कौशलों के विकास का एकमात्र उपलब्ध जरिया शिक्षा है।
- चूँकि हमारे देश में लोगों की एक जगह से दूसरी जगह जाने की आजादी सुनिश्चित की गई है, मौकों में बराबरी सुनिश्चित की गई है, अतः इन्हें सुनिश्चित करने के लिए शिक्षा की एक समान प्रणाली होनी चाहिए। इसीलिए राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की जरूरत पड़ती है।
- राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में शिक्षा के लक्ष्य व साझा प्रयोजन, विद्यालयी शिक्षा का ढाँचा, अध्ययन के केन्द्रीय घटक तथा व्यवस्थित योजना का होना शामिल है। आज हम राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को इसी रूप में समझते हैं।
- इसके बगैर सभी के लिए बराबर शैक्षिक मौकों को सुनिश्चित करना सम्भव नहीं होगा।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या

एक लोकतांत्रिक संविधान तथा राजनीति के नतीजे के तौर पर एक समान शिक्षा प्रणाली की जरूरत हमारे सामने उभरती है। शिक्षा की राष्ट्रीय नीति में इस जरूरत की अभिव्यक्त होती है और उससे इसकी न्यायसंगतता भी स्थापित होती है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या एक ऐसा औजार है जिसके जरिए राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के आदर्श को जमीन पर उतारा जा सकता है, इसलिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या शिक्षा की एक ऐसी योजना बन जाती है जिसकी वजहें भारत के संविधान तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति से निकलती है। लेकिन इसका काम सिद्धान्तों की एक ऐसी रूपरेखा गढ़ना है जो कक्षाओं में होने वाले शिक्षण कार्य का मार्गदर्शन उन बुनियादी सिद्धान्तों के मुताबिक कर सके।

इसलिए पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक, शिक्षण विधियाँ और आकलन को विकसित करने के दिशा–निर्देशों आदि सभी की जगह राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के दस्तावेज में होती है क्योंकि यह राष्ट्रीय शैक्षिक आदर्शों तथा उन आदर्शों को कक्षाओं में जमीन पर उतारने के बीच की कड़ी होता है। दूसरे शब्दों में यह राष्ट्रीय शैक्षिक आदर्शों की तरफ जाने के रास्ते का नक्शा होता है। सिद्धान्तों की ऐसी रूपरेखा बनाना मुश्किल काम है, जो एकदम साफ–साफ दिशा भी दिखा सके और इसके साथ ही उसमें लचीलेपन के लिए भी काफी गुंजाइश हो, लेकिन राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को सही दिशा में रखने के लिए यह जरूरी है। इस प्रकार की रूपरेखा में देश के सामाजिक–राजनैतिक दर्शन की गहरी समझ,

आदर्श समाज की और उसके अनुरूप मनुष्य की स्पष्ट कल्पना के साथ–साथ शैक्षणिक सिद्धान्त एवं देश के वास्तविक परिप्रेक्ष्य तथा आवश्यकताओं की गहरी समझ का शामिल होना जरूरी है।

इसलिए किसी भी विद्यालयी तंत्र के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का होना वैसा ही है जैसे नाविक के पास समुद्री रास्ते के नक्शे का होना है। नाविक बगैर नक्शे के रास्ते से भटक जाएगा और विद्यालयी तंत्र को बगैर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के कभी भी इस बात का पता नहीं चलेगा कि वह राष्ट्रीय आदर्शों को हासिल करने की राह में रोड़े अटका रहा है या उसे हासिल करने में मदद कर रहा है।

References :

1. Aurobindo Gosh, A system of national education, Tagore & CO., Madras, 1921.
2. Har Dayal, Our Educational Problem, Tagore & Co., Madras, 1922.
3. Rabindranath Tagore, The Centre of Indian Culture, a lecture delivered in Madras in 1919.
4. Lajpat Rai, The problem of national education in India, Gorge Allen & Unwin, London, 1920.
5. John Dewey, Democracy and Education, Macmillan Company, New York, 1916.
6. Christopher Winch, Quality of Education, Journal of Philosophy of Education, Vol. 30. No. 1. 1996.
7. National Policy on Education, Ministry of Human Resource Development, New Delhi, 1998.

रोहित धनकर अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु में प्रोफेसर तथा 'स्कूल ऑफ एजूकेशन' संकाय के निदेशक हैं। वे शिक्षा के क्षेत्र में 1978 से कार्यरत हैं। इस दौरान वे राज्य स्तरीय एवं राष्ट्रीय स्तर की कई ऐसी पहलों, आयोजनों का हिस्सा रहे हैं जिनमें शैक्षिक सुधार, पाठ्यचर्या विकास और शिक्षक शिक्षा और उसके पेशवर विकास पर काम हुआ है। उन्होंने शिक्षक के रूप में डेविड ऑसबरॉ से उनके स्कूल नीलबाग में प्रशिक्षण प्राप्त किया है। लगभग 15 वर्ष प्रारम्भिक शिक्षा का अध्यापन किया है। वे जयपुर में स्थित स्वयंसेवी संस्था दिगन्तर के संस्थापक सचिव हैं तथा शैक्षिक सलाहकार के रूप में संस्था से सम्बद्ध हैं। उनसे rohit.dhankar@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : रवि कांत (**अनुवाद सम्पादन** : मनोज कुमार)